International Journal of Leading Research Publication (IJLRP)

E-ISSN: 2582-8010 ● Website: www.ijlrp.com ● Email: editor@ijlrp.com

पर्यावरण संरक्षण की दिशा में भारतीय अधिनियमों की उपयोगिता का समालोचनात्मक विश्लेषण

डॉ. राकेश कुमार जायसवाल

असिस्टेंट प्रोफेसर
राजनीति विज्ञान विभाग, राजकीय महाविद्यालय, बदायूँ, उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश

पर्यावरणीय संकट इक्कीसवीं सदी की सबसे गंभीर वैश्विक और राष्ट्रीय चुनौतियों में से एक है। भारत जैसे विशाल, बहुलतावादी, विकासोन्मुख और जनसंख्या-सघन देश में पर्यावरण संरक्षण का प्रश्न केवल प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सार्वजनिक स्वास्थ्य, आजीविका, सामाजिक न्याय, शासन, संघवाद, मानवीय गरिमा और सतत विकास से गहराई से जुड़ा हुआ है। स्वतंत्रता के पश्चात प्रारंभिक दशकों में भारतीय राज्य की प्राथमिकताएँ औद्योगिक विकास, कृषि विस्तार, अवसंरचनात्मक निर्माण और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण पर केंद्रित रहीं; किंतु 1970 के दशक से पर्यावरणीय क्षरण, प्रदूषण, वनों की कटाई, जैव-विविधता के विनाश और औद्योगिक दुर्घटनाओं ने विधायी हस्तक्षेप की आवश्यकता को तीव्र बना दिया। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जल (प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण) अधिनियम, 1974; वन (संरक्षण) अधिनियम, 1980; वायु (प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण) अधिनियम, 1981; पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम, 1986; सार्वजनिक देयता बीमा अधिनियम, 1991; जैव-विविधता अधिनियम, 2002; वनाधिकार अधिनियम, 2006; तथा राष्ट्रीय हरित अधिकरण अधिनियम, 2010 जैसे महत्त्वपूर्ण कानून अस्तित्व में आए। भारतीय न्यायपालिका ने भी अनुच्छेद 21 के तहत स्वच्छ पर्यावरण के अधिकार को जीवन के अधिकार का हिस्सा मानते हुए पर्यावरणीय न्यायशास्त्र को समृद्ध किया। यह शोधपत्र पर्यावरण संरक्षण की दिशा में भारतीय अधिनियमों की उपयोगिता का समालोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसका उद्देश्य केवल प्रमुख कानूनों का वर्णन करना नहीं, बल्कि यह परखना है कि पर्यावरणीय शासन, प्रदूषण नियंत्रण, वन एवं जैव-विविधता संरक्षण, पर्यावरणीय न्याय, स्थानीय समुदायों की भागीदारी, औद्योगिक दायित्व और सतत विकास के संदर्भ में ये अधिनियम कितने प्रभावी सिद्ध हुए हैं। अध्ययन में भारतीय संविधान के पर्यावरणीय प्रावधानों, प्रमुख कानूनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, उनकी संस्थागत संरचना, कार्यान्वयन-तंत्र, न्यायिक व्याख्याओं, प्रशासनिक चुनौतियों, संघीय जटिलताओं और सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों का विस्तृत परीक्षण किया गया है। शोधपत्र यह भी दर्शाता है कि भारतीय पर्यावरणीय कानूनों ने पर्यावरण संरक्षण के लिए एक व्यापक और सशक्त वैधानिक आधार अवश्य उपलब्ध कराया है, किन्तु उनकी वास्तविक उपयोगिता कई कारणों से सीमित हुई है—जैसे प्रदूषण नियंत्रण संस्थाओं की कमजोर क्षमता, परियोजना-स्वीकृति में औपचारिकता, पर्यावरण प्रभाव आकलन की अपूर्णता, डेटा-अपारदर्शिता, उद्योग-प्रशासन गठजोड़, स्थानीय समुदायों की अपर्याप्त भागीदारी, दंडात्मक प्रावधानों का कमजोर प्रयोग, और पर्यावरणीय न्याय तक असमान पहुँच।

शोध का निष्कर्ष यह है कि भारतीय अधिनियम पर्यावरण संरक्षण की दिशा में अनिवार्य विधिक आधार प्रदान करते हैं, किंतु वे तभी प्रभावी हो सकते हैं जब उनका क्रियान्वयन पारदर्शी, वैज्ञानिक, जवाबदेह, विकेंद्रीकृत और सामाजिक न्याय-समर्थ हो। पर्यावरणीय विधायन की उपयोगिता कानूनों की संख्या में नहीं, बल्कि उनके जीवंत और निष्पक्ष अनुपालन में निहित है। अतः वर्तमान समय की आवश्यकता यह है कि भारतीय पर्यावरणीय कानूनों को केवल विनियामक औजार के रूप में नहीं, बल्कि संवैधानिक नैतिकता, पर्यावरणीय लोकतंत्र और सतत विकास के वाहक के रूप में पुनर्संगठित किया जाए।

मुख्य शब्द: पर्यावरण संरक्षण, भारतीय अधिनियम, पर्यावरणीय कानून, जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, वन संरक्षण, पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, जैव-विविधता, राष्ट्रीय हरित अधिकरण, सतत विकास

1. प्रस्तावना

पर्यावरण मानव सभ्यता का बाहरी परिवेश मात्र नहीं, बल्कि उसके अस्तित्व की आधारभूत शर्त है। मनुष्य अपनी समस्त आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक गतिविधियों के लिए प्रकृति पर निर्भर रहता है। जल, वायु, भूमि, वन, वन्यजीव, खनिज, नदियाँ, पर्वत, समुद्र, जैव-विविधता और जलवायु—ये सभी तत्व जीवन-प्रक्रिया को संभव बनाते हैं। यदि इन संसाधनों का दोहन

उनके पुनरुत्पादन और वहन-क्षमता से अधिक हो, तो पर्यावरणीय संतुलन बिगड़ता है और इसका प्रतिकूल प्रभाव मानव जीवन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, अर्थव्यवस्था और सामाजिक न्याय पर पड़ता है। आधुनिक विकास-यात्रा ने इस असंतुलन को तीव्र किया है। औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, तीव्र परिवहन, ऊर्जा-उपभोग, अवसंरचना निर्माण, रासायनिक कृषि, प्लास्टिक और इलेक्ट्रॉनिक कचरे का विस्तार, तथा प्राकृतिक संसाधनों के आक्रामक दोहन ने पर्यावरणीय संकट को संरचनात्मक बना दिया है। भारत में यह संकट एक विशिष्ट रूप ग्रहण करता है। यहाँ पर्यावरणीय मुद्दे गरीबी, जनसंख्या-दबाव, असमान विकास, ग्रामीण निर्भरता, पारंपरिक आजीविकाओं, आदिवासी समाज, शहरी अव्यवस्था, जल-संकट, भूमि-अधिग्रहण और औद्योगिक विस्तार से सीधे जुड़े हुए हैं। उदाहरणतः नदी-प्रदूषण केवल पारिस्थितिक समस्या नहीं, बल्कि पेयजल, स्वास्थ्य, कृषि, धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन और नगर-प्रबंधन का मुद्दा है। वायु प्रदूषण केवल शहरों की असुविधा नहीं, बल्कि श्वसन-रोग, मृत्यु-दर, उत्पादकता और जीवन-गुणवत्ता का प्रश्न है। वन संरक्षण केवल वृक्षों की संख्या का मामला नहीं, बल्कि जलचक्र, जलवायु, जैव-विविधता, आदिवासी अधिकार और पारंपरिक ज्ञान की रक्षा का विषय है। अतः पर्यावरण संरक्षण का प्रश्न भारतीय संदर्भ में बहुस्तरीय और जटिल है। स्वतंत्रता-उत्तर भारत में राज्य ने विकास की परियोजना को प्राथमिकता दी। बड़े बाँध, इस्पात संयंत्र, कोयला-खनन, विद्युत परियोजनाएँ, औद्योगिक नगर, हरित क्रांति और परिवहन अवसंरचना को राष्ट्रीय प्रगति का प्रतीक माना गया। उस दौर में पर्यावरणीय प्रभावों को अक्सर विकास की अनिवार्य कीमत के रूप में देखा गया। परंतु धीरे-धीरे यह स्पष्ट हुआ कि अनियंत्रित विकास मॉडल स्वयं समाज और अर्थव्यवस्था के लिए प्रतिकूल परिणाम उत्पन्न कर रहा है। जल-स्रोतों का प्रदूषण, जंगलों का क्षरण, औद्योगिक दुर्घटनाएँ, शहरों में प्रदूषित हवा, कृषि-भूमि की उर्वरता में कमी, भूजल-पतन और समुदायों का विस्थापन ऐसी समस्याएँ थीं जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता था। 1972 के स्टॉकहोम सम्मेलन के पश्चात वैश्विक स्तर पर पर्यावरणीय चेतना का विस्तार हुआ और भारत ने भी पर्यावरणीय शासन की दिशा में विधायी तथा नीतिगत हस्तक्षेपों की शुरुआत की।

पर्यावरण संरक्षण हेतु कानून बनाना आधुनिक राज्य की एक प्रमुख जिम्मेदारी है, क्योंकि पर्यावरणीय संसाधन अनेक बार साझा प्रकृति के होते हैं और उनके संरक्षण के लिए सार्वजनिक नियमन आवश्यक होता है। बाजार, समुदाय और राज्य—तीनों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है, किंतु कानून वह माध्यम है जिसके जरिए राज्य प्रदूषण को नियंत्रित करता है, संसाधनों के उपयोग के मानक निर्धारित करता है, अधिकार और दायित्व तय करता है, उल्लंघन पर दंड देता है, और नागरिकों को न्याय का मार्ग उपलब्ध कराता है। भारत में पर्यावरणीय विधायन का विस्तृत ढाँचा विकसित हुआ है। फिर भी पर्यावरणीय संकट की तीव्रता इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि कानूनों की उपस्थिति भर पर्याप्त नहीं है। यहीं से इस शोधपत्र की समस्या प्रारंभ होती है। यदि भारत में पर्यावरण संरक्षण के लिए अनेक अधिनियम मौजूद हैं, तो फिर नदियाँ प्रदूषित क्यों हैं? महानगरों में हवा खतरनाक स्तर तक दूषित क्यों हो जाती है? वन और जैव-विविधता पर दबाव क्यों बना हुआ है? अपशिष्ट प्रबंधन, औद्योगिक उत्सर्जन, खनन परियोजनाओं और शहरी नियोजन में पर्यावरणीय मानकों का पालन क्यों नहीं हो पाता? क्या कानूनों का ढाँचा कमजोर है, या उनका क्रियान्वयन? क्या समस्या संस्थाओं की है, या राजनीतिक इच्छाशक्ति की? क्या वर्तमान अधिनियम पर्यावरण और विकास के बीच संतुलन स्थापित करने में सक्षम हैं? और क्या वे सामाजिक न्याय और समुदाय-अधिकारों के प्रति पर्याप्त संवेदनशील हैं? इन प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए प्रस्तुत शोधपत्र भारतीय अधिनियमों की उपयोगिता का समालोचनात्मक विश्लेषण करता है। शोध का केंद्रीय तर्क यह है कि भारतीय पर्यावरणीय कानूनों ने एक सशक्त विधिक आधार अवश्य प्रदान किया है, किंतु उनकी प्रभावशीलता बहुधा क्रियान्वयन, पारदर्शिता, संस्थागत क्षमता, न्यायिक सक्रियता, नागरिक भागीदारी और राजनीतिक-आर्थिक संदर्भों पर निर्भर करती है। इसलिए यह अध्ययन विधि और व्यवहार, आदर्श और वास्तविकता, संरक्षण और विकास, तथा राज्य और समुदाय के बीच मौजूद तनावों को सामने लाता है।

2. शोध समस्या, उद्देश्य और शोध प्रश्न

भारत में पर्यावरण संरक्षण हेतु विस्तृत विधिक ढाँचे की उपस्थिति के बावजूद पर्यावरणीय ह्रास का निरंतर जारी रहना एक गंभीर नीति और शासन-संबंधी प्रश्न है। इस शोधपत्र की मूल समस्या इसी विरोधाभास की पड़ताल करना है—अर्थात एक ओर पर्यावरणीय कानूनों का विस्तार, दूसरी ओर पर्यावरणीय संकट का गहराव। यह विरोधाभास संकेत करता है कि केवल कानून बना देना पर्याप्त नहीं; उनके दार्शनिक आधार, प्रशासनिक संरचना, न्यायिक व्याख्या, प्रवर्तन क्षमता, स्थानीय स्वीकृति और विकास मॉडल के साथ उनके संबंधों का परीक्षण आवश्यक है।

शोध के उद्देश्य

1. भारत में पर्यावरणीय विधायन के ऐतिहासिक विकास और उसके सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ का विश्लेषण करना।
2. भारतीय संविधान में पर्यावरण संरक्षण के वैधानिक और नैतिक आधार को स्पष्ट करना।
3. प्रमुख पर्यावरणीय अधिनियमों—जल अधिनियम, वायु अधिनियम, वन संरक्षण अधिनियम, पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, जैव-विविधता अधिनियम, वनाधिकार अधिनियम और NGT अधिनियम आदि—की संरचना और उपयोगिता का मूल्यांकन करना।
4. इन अधिनियमों के क्रियान्वयन में बाधक संस्थागत, प्रशासनिक, राजनीतिक और सामाजिक कारकों का विश्लेषण करना।

5. पर्यावरणीय न्याय, स्थानीय समुदायों की भागीदारी, संघीय ढाँचे और न्यायपालिका की भूमिका की समीक्षा करना।
6. पर्यावरण संरक्षण की दिशा में भारतीय विधानों को अधिक प्रभावी बनाने हेतु नीतिगत और संरचनात्मक सुझाव प्रस्तुत करना।

शोध प्रश्न

1. भारतीय पर्यावरणीय अधिनियमों का वैचारिक और संवैधानिक आधार क्या है?
2. पर्यावरण संरक्षण के क्षेत्र में प्रमुख भारतीय कानूनों ने किस प्रकार का संस्थागत ढाँचा निर्मित किया है?
3. ये अधिनियम प्रदूषण नियंत्रण, वन संरक्षण, जैव-विविधता सुरक्षा और पर्यावरणीय न्याय के संदर्भ में कितने उपयोगी सिद्ध हुए हैं?
4. भारतीय पर्यावरणीय कानूनों की सीमाएँ क्या हैं, और वे किन प्रशासनिक व राजनीतिक कारकों से उत्पन्न होती हैं?
5. क्या भारतीय पर्यावरणीय कानून सतत विकास, सामाजिक न्याय और स्थानीय समुदायों की भागीदारी के बीच संतुलन स्थापित कर पाते हैं?
6. समकालीन पर्यावरणीय चुनौतियों के संदर्भ में इन कानूनों के सुधार की क्या दिशा होनी चाहिए?

3. शोध पद्धति और स्रोत

यह शोध गुणात्मक, विश्लेषणात्मक और समालोचनात्मक पद्धति पर आधारित है। शोध में दो प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है—

प्राथमिक स्रोत:

1. भारतीय संविधान के संबंधित अनुच्छेद
2. प्रमुख भारतीय पर्यावरणीय अधिनियम
3. पर्यावरण प्रभाव आकलन अधिसूचनाएँ
4. प्रदूषण नियंत्रण बोर्डों की आधिकारिक रिपोर्टें
5. पर्यावरण, वन एवं जलवायु परिवर्तन मंत्रालय के दस्तावेज
6. उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालयों और राष्ट्रीय हरित अधिकरण के महत्त्वपूर्ण निर्णय

द्वितीयक स्रोत:

1. 2000–2014 के बीच प्रकाशित विधिक और नीतिगत अध्ययन
2. पर्यावरणीय शासन, पर्यावरणीय न्याय और सतत विकास पर पुस्तकों और शोधलेखों का उपयोग
3. जनांदोलनों, वन शासन, जैव-विविधता और प्रदूषण नियंत्रण पर विश्लेषणात्मक साहित्य

पद्धति के स्तर पर शोध तीन चरणों में विकसित किया गया है—पहला, ऐतिहासिक-संवैधानिक पुनर्निर्माण; दूसरा, प्रमुख अधिनियमों का संरचनात्मक और कार्यात्मक विश्लेषण; तीसरा, उनकी उपयोगिता और सीमाओं का समालोचनात्मक परीक्षण।

4. साहित्य समीक्षा

भारतीय पर्यावरणीय कानूनों पर उपलब्ध साहित्य व्यापक और बहु-विषयी है। विधिक अध्ययन, नीति-विश्लेषण, पर्यावरणीय राजनीति, सामाजिक आंदोलनों और न्यायिक सक्रियता संबंधी साहित्य मिलकर इस क्षेत्र की जटिलता को सामने लाते हैं। श्याम दीवान और आर्मिन रोसेनक्रांज़ (2001) की कृति Environmental Law and Policy in India भारतीय पर्यावरणीय विधायन की बुनियादी समझ प्रदान करती है। यह पुस्तक विधिक ढाँचे, न्यायिक मामलों, सांविधिक प्रावधानों और नीतिगत बहसों को समेकित रूप में प्रस्तुत करती है। पी. लीलाकृष्णन (2000; 2008) ने भारतीय पर्यावरणीय कानूनों की दार्शनिक पृष्ठभूमि, संवैधानिक आधार और न्यायिक विकास का विश्लेषण किया है। उनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भारत में पर्यावरणीय विधायन केवल प्रशासनिक नियंत्रण की प्रणाली नहीं, बल्कि अधिकार, दायित्व और सामाजिक नीति का भी प्रश्न है। सतीश उपाध्याय और विद्या उपाध्याय (2002) ने पर्यावरणीय कानूनों को व्यावहारिक संदर्भ में समझाते हुए बताया कि विधिक प्रावधानों की सफलता क्रियान्वयन एजेंसियों की क्षमता और न्यायपालिका की सक्रियता पर निर्भर करती है। एम.पी. सिंह (2007) और एम.पी. जैन (2011) जैसे विधिवेत्ताओं ने भारतीय संवैधानिक कानून के संदर्भ में पर्यावरणीय अधिकारों के विकास पर प्रकाश डाला है। अनुच्छेद 21 की विस्तृत व्याख्या के माध्यम से पर्यावरणीय न्यायशास्त्र का विस्तार, भारतीय विधिक व्यवस्था की एक विशिष्ट उपलब्धि मानी गई है। माधव गाडगिल और रामचंद्र गुहा (2000 संस्करण) की Ecology and Equity भारतीय पर्यावरणीय विमर्श को सामाजिक न्याय, पारिस्थितिकी और संसाधनों की राजनीति से जोड़ती है। वे दिखाते हैं कि पर्यावरण संरक्षण का प्रश्न केवल संरक्षण बनाम विकास का द्वंद्व नहीं, बल्कि संसाधनों के उपयोग और नियंत्रण के असमान ढाँचे का प्रश्न भी है। अमिता बाविस्कर (2004) ने नर्मदा घाटी के संदर्भ में विकास, विस्थापन, पर्यावरण और आदिवासी राजनीति के बीच संबंधों का गंभीर विश्लेषण

किया है। इससे स्पष्ट होता है कि पर्यावरणीय कानूनों का मूल्यांकन केवल संरक्षण-परिणामों से नहीं, बल्कि उनके सामाजिक प्रभावों से भी किया जाना चाहिए।

ए.आर. देसाई (2002) और अन्य अध्येताओं ने भारत के पर्यावरणीय जनांदोलनों का अध्ययन करते हुए यह दिखाया कि कानून अनेक बार नीचे से उठे जनसंघर्षों के दबाव में अधिक अर्थपूर्ण बनते हैं। नागरिक समाज, जनहित याचिका और न्यायिक हस्तक्षेप के बिना पर्यावरणीय शासन की वैधानिकता कई बार निष्प्राण रह सकती है। दूसरी ओर, कुछ अध्ययनों ने यह आलोचना भी की है कि न्यायिक सक्रियता कभी-कभी नीति और प्रशासन की सीमाओं में प्रवेश कर जाती है, जिससे संस्थागत संतुलन का प्रश्न उठता है। 2000–2014 के दौरान भारतीय पर्यावरणीय शासन पर प्रकाशित सरकारी और अर्द्ध-सरकारी रिपोर्टें भी महत्त्वपूर्ण हैं। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड की वार्षिक रिपोर्टें, पर्यावरण मंत्रालय की रिपोर्टें, योजना आयोग के दस्तावेज, तथा राष्ट्रीय पर्यावरण नीति, 2006 जैसे दस्तावेज इस क्षेत्र की व्यावहारिक चुनौतियों पर प्रकाश डालते हैं। इनसे पता चलता है कि पर्यावरणीय कानूनों का ढाँचा विकसित होने के बावजूद जल प्रदूषण, वायु गुणवत्ता, अपशिष्ट प्रबंधन, पर्यावरणीय मंजूरी और जैव-विविधता संरक्षण के क्षेत्रों में व्यापक कमियाँ बनी हुई हैं। समग्रतः साहित्य समीक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय पर्यावरणीय अधिनियमों की उपयोगिता मिश्रित है। वे वैधानिक रूप से उन्नत और कई मामलों में प्रगतिशील हैं, पर उनका प्रभाव सीमित, असमान और संदर्भ-निर्भर है। प्रस्तुत शोधपत्र इसी निष्कर्ष को अधिक व्यवस्थित, तुलनात्मक और समालोचनात्मक रूप में विकसित करता है।

5. पर्यावरण संरक्षण का वैचारिक आधार

5.1 पर्यावरण की व्यापक अवधारणा

पर्यावरण की संकल्पना समय के साथ विकसित हुई है। प्रारंभिक दृष्टियों में पर्यावरण को केवल प्राकृतिक संसाधनों का भंडार माना जाता था, जिसका उपयोग मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु करता है। आधुनिक पर्यावरणीय चिंतन ने इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण की सीमाएँ उजागर की हैं। अब पर्यावरण को एक जटिल पारिस्थितिक तंत्र के रूप में समझा जाता है, जिसमें जैविक और अजैविक घटक परस्पर निर्भर होते हैं। मनुष्य इस तंत्र का स्वामी नहीं, बल्कि एक घटक है। अतः पर्यावरण संरक्षण का अर्थ केवल संसाधनों का प्रबंधन नहीं, बल्कि पारिस्थितिक संतुलन की रक्षा भी है।

5.2 सतत विकास की अवधारणा

पर्यावरण संरक्षण के आधुनिक विमर्श में सतत विकास एक केंद्रीय अवधारणा है। इसका तात्पर्य ऐसा विकास है जो वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं की पूर्ति करे, किंतु भविष्य की पीढ़ियों की आवश्यकताओं की क्षमता को क्षति न पहुँचाए। भारतीय न्यायपालिका ने इस अवधारणा को अपनाया और इसे विकास-पर्यावरण संतुलन का मानदंड माना। परंतु व्यवहार में सतत विकास का अर्थ कई बार अस्पष्ट रहता है। उद्योग और राज्य इसे विकास जारी रखने का औचित्य भी बना लेते हैं। इसलिए कानूनों की उपयोगिता इस बात पर निर्भर करती है कि सतत विकास को किस प्रकार समझा और लागू किया जाता है।

5.3 पर्यावरणीय न्याय

पर्यावरणीय न्याय का सिद्धांत यह कहता है कि पर्यावरणीय लाभ और बोझ का वितरण न्यायपूर्ण होना चाहिए। प्रदूषण, अपशिष्ट, औद्योगिक जोखिम और संसाधन-क्षति का बोझ गरीब, हाशिए पर स्थित और राजनीतिक रूप से कमजोर समूहों पर अधिक नहीं पड़ना चाहिए। भारत में यह सिद्धांत विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि आदिवासी, ग्रामीण, दलित, मछुआरे और शहरी झुग्गी बस्तियों के निवासी अक्सर पर्यावरणीय क्षति के सबसे बड़े शिकार होते हैं। इसलिए किसी कानून की उपयोगिता का मूल्यांकन केवल संरक्षण-सूचकांकों से नहीं, बल्कि उसके न्यायिक वितरणात्मक प्रभाव से भी होना चाहिए।

5.4 सार्वजनिक न्यास और साझा संसाधन

नदियाँ, झीलें, वन, तटीय क्षेत्र और वायु जैसे संसाधन निजी स्वामित्व की वस्तुएँ नहीं हैं; इन्हें सार्वजनिक न्यास के रूप में देखा जाता है। राज्य इन संसाधनों का मालिक नहीं, बल्कि न्यासी है। इस सिद्धांत के अनुसार राज्य का दायित्व है कि वह इन संसाधनों की रक्षा करे और उन्हें निजी लाभ के लिए अनियंत्रित रूप से न सौंपे। न्यायपालिका ने इस सिद्धांत को भारतीय संदर्भ में स्वीकार किया और इससे पर्यावरणीय कानूनों की वैधानिक शक्ति बढ़ी।

6. भारतीय संविधान और पर्यावरण संरक्षण

भारतीय संविधान की मूल संरचना में पर्यावरण का स्पष्ट उल्लेख प्रारंभ में नहीं था, किंतु जीवन, स्वास्थ्य, समानता, राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांत और संसाधनों के न्यायपूर्ण वितरण की अवधारणाएँ पर्यावरणीय दृष्टि के लिए आधार उपलब्ध कराती थीं। 42वें

संविधान संशोधन, 1976 ने पहली बार पर्यावरण संरक्षण को स्पष्ट संवैधानिक आधार दिया। अनुच्छेद 48A राज्य को निर्देश देता है कि वह पर्यावरण की रक्षा और सुधार करे तथा देश के वन और वन्यजीवों की रक्षा करे। अनुच्छेद 51A(g) प्रत्येक नागरिक पर यह मौलिक कर्तव्य डालता है कि वह प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा और संवर्धन करे। ये दोनों प्रावधान मिलकर पर्यावरणीय संवैधानिक नैतिकता को अभिव्यक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 21 का न्यायिक विस्तार सबसे महत्वपूर्ण रहा। उच्चतम न्यायालय ने अनेक मामलों में कहा कि जीवन के अधिकार का अर्थ केवल शारीरिक अस्तित्व नहीं, बल्कि गरिमापूर्ण, स्वस्थ और सुरक्षित जीवन है। स्वच्छ पानी, शुद्ध वायु और प्रदूषण-मुक्त पर्यावरण इस अधिकार का हिस्सा हैं। अनुच्छेद 14 (समानता), अनुच्छेद 19(1)(g) (व्यवसाय की स्वतंत्रता) और अनुच्छेद 32 तथा 226 (संवैधानिक उपचार) भी पर्यावरणीय न्याय में महत्त्वपूर्ण रहे हैं, क्योंकि इनके आधार पर नागरिक और संगठन न्यायालयों तक पहुँचे। संविधान के संघीय ढाँचे में भी पर्यावरणीय शासन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 42वें संशोधन के बाद वन और वन्यजीव समवर्ती सूची में लाए गए, जिससे केंद्र और राज्य दोनों को इस क्षेत्र में विधायी शक्ति मिली। इससे एक ओर केंद्रीय समन्वय संभव हुआ, दूसरी ओर संघीय तनावों की संभावना भी बनी रही।

7. भारत में पर्यावरणीय विधायन का ऐतिहासिक विकास

भारतीय पर्यावरणीय विधायन का विकास रैखिक नहीं, बल्कि चरणबद्ध है। औपनिवेशिक काल में बने कई कानून संरक्षण की बजाय नियंत्रण और राजस्व-हित से प्रेरित थे, जैसे भारतीय वन अधिनियम। स्वतंत्रता के बाद शुरुआती दशकों में सार्वजनिक स्वास्थ्य, फैक्टरी सुरक्षा और नगर प्रशासन से संबंधित कुछ प्रावधान मौजूद थे, लेकिन पर्यावरण को व्यापक नीति-विषय के रूप में नहीं देखा गया। 1970 के दशक में पर्यावरणीय शासन का आधुनिक चरण प्रारंभ हुआ। स्टॉकहोम सम्मेलन (1972) ने भारत समेत अनेक विकासशील देशों को पर्यावरणीय विनियमन की दिशा में प्रेरित किया। इसी दौर में जल अधिनियम, 1974 और बाद में वायु अधिनियम, 1981 अस्तित्व में आए। 1980 में वन संरक्षण अधिनियम ने वन भूमि के उपयोग पर नियंत्रण स्थापित किया। भोपाल गैस त्रासदी (1984) ने औद्योगिक जोखिम और नियमन की सीमाओं को उजागर किया, जिसके परिणामस्वरूप पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986 बनाया गया। यह अधिनियम केंद्रीय महत्त्व का है क्योंकि इससे सरकार को व्यापक नियामक शक्तियाँ मिलीं। 1990 के दशक और उसके बाद का काल पर्यावरणीय कानूनों के विस्तार और गहराई का काल है। इस अवधि में सार्वजनिक देयता, पर्यावरण प्रभाव आकलन, तटीय क्षेत्र विनियमन, खतरनाक अपशिष्ट प्रबंधन, जैव-विविधता, वनाधिकार, और अंततः राष्ट्रीय हरित अधिकरण जैसे क्षेत्र उभरे। इस विकास में न्यायपालिका और जनांदोलनों की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही।

8. प्रमुख भारतीय पर्यावरणीय अधिनियमों का विस्तृत विश्लेषण

8.1 जल (प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण) अधिनियम, 1974

यह अधिनियम भारत में आधुनिक पर्यावरणीय विधायन की नींव माना जाता है। इसका उद्देश्य जलस्रोतों को प्रदूषण से बचाना और उनकी गुणवत्ता बनाए रखना था। इस कानून के अंतर्गत केंद्रीय और राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्डों की स्थापना हुई। बोर्डों को उद्योगों के उत्सर्जन और अपशिष्ट के नियंत्रण, नमूना परीक्षण, निरीक्षण, अनुमति और अभियोजन की शक्तियाँ प्रदान की गईं।

उपयोगिता का विश्लेषण

यह अधिनियम कई कारणों से उपयोगी सिद्ध हुआ। पहला, इसने जल प्रदूषण को पृथक और गंभीर सार्वजनिक समस्या के रूप में विधिक मान्यता दी। दूसरा, इसने प्रदूषण नियंत्रण हेतु संस्थागत तंत्र स्थापित किया। तीसरा, इसने उद्योगों को बिना उपचारित अपशिष्ट जल के निर्वहन पर नियंत्रण में लाने की व्यवस्था की। चौथा, इसने नागरिकों और न्यायपालिका को हस्तक्षेप का आधार दिया।

किन्तु इसकी सीमाएँ भी स्पष्ट हैं। भारत में नदी-प्रदूषण का एक बड़ा स्रोत घरेलू सीवेज है, जबकि अधिनियम का संरचनात्मक जोर औद्योगिक प्रदूषण पर अपेक्षाकृत अधिक रहा। नगर निकायों की क्षमता की कमी, सीवेज शोधन संयंत्रों की अपर्याप्तता और शहरी अव्यवस्था के कारण कानून की उपयोगिता सीमित हुई। इसके अतिरिक्त बोर्डों की तकनीकी क्षमता, प्रयोगशालाओं और कर्मचारियों की कमी ने कार्यान्वयन को कमजोर किया। दंडात्मक कार्रवाई लंबी और जटिल होने से निवारक प्रभाव कम हुआ। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह अधिनियम आवश्यक था, किंतु जल संरक्षण के लिए पर्याप्त नहीं।

8.2 जल उपकर अधिनियम, 1977

जल प्रदूषण नियंत्रण गतिविधियों के वित्तपोषण हेतु जल उपकर अधिनियम लागू किया गया। इसका उद्देश्य जल उपयोग करने वाले उद्योगों और स्थानीय निकायों पर उपकर लगाकर प्रदूषण नियंत्रण बोर्डों के लिए संसाधन जुटाना था।

उपयोगिता

इसने प्रदूषण नियंत्रण तंत्र को आंशिक वित्तीय आधार दिया और जल उपयोग को नियामक ढाँचे से जोड़ा। किंतु व्यवहार में वित्तीय संग्रहण, प्रशासनिक जटिलता और सीमित प्रभावशीलता के कारण इसका प्रभाव बहुत व्यापक नहीं रहा। बाद के सुधारों में इसकी प्रासंगिकता कम होती गई।

8.3 वन (संरक्षण) अधिनियम, 1980

वन विनाश की बढ़ती गति और राज्यों द्वारा वन भूमि को अन्य प्रयोजनों में रूपांतरित करने की प्रवृत्ति को नियंत्रित करने हेतु यह अधिनियम बनाया गया। इसके अनुसार वन भूमि को गैर-वन प्रयोजन हेतु उपयोग में लाने से पहले केंद्र सरकार की स्वीकृति आवश्यक है।

उपयोगिता का विश्लेषण

इस कानून ने वन भूमि के अनियंत्रित विचलन पर महत्वपूर्ण रोक लगाई। इसके कारण राज्यों की मनमानी पर नियंत्रण हुआ। वन संरक्षण के लिए केंद्रीय अनुमोदन प्रक्रिया ने एक अतिरिक्त सुरक्षा-परत प्रदान की। न्यायपालिका ने 'वन' की व्यापक व्याख्या करके संरक्षण-उन्मुख रुख अपनाया। प्रतिपूरक वनीकरण और वन भूमि के वैकल्पिक उपयोग पर निगरानी जैसी अवधारणाएँ भी इस कानून से जुड़ीं। फिर भी सीमाएँ महत्वपूर्ण हैं। पहला, यह कानून संरक्षणवादी है, लेकिन स्थानीय समुदायों की ऐतिहासिक भूमिका और अधिकारों को पर्याप्त स्थान नहीं देता। दूसरा, प्रतिपूरक वनीकरण की अवधारणा व्यवहार में कई बार प्राकृतिक वनों के स्थान पर वृक्षारोपण तक सीमित रह जाती है, जो पारिस्थितिक रूप से समान नहीं होता। तीसरा, विकास परियोजनाओं के लिए स्वीकृति-प्रक्रिया में कई बार पर्यावरणीय और सामाजिक प्रभावों का समग्र मूल्यांकन नहीं होता। चौथा, वन संरक्षण और आदिवासी अधिकारों के बीच तनाव लंबे समय तक बना रहा, जिसे बाद में वनाधिकार अधिनियम ने संबोधित किया।

8.4 वायु (प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण) अधिनियम, 1981

वायु प्रदूषण के बढ़ते खतरे और वैश्विक पर्यावरणीय प्रतिबद्धताओं के बीच यह अधिनियम बनाया गया। इसका उद्देश्य वायु गुणवत्ता बनाए रखना और प्रदूषणकारी उत्सर्जन पर नियंत्रण करना है। जल अधिनियम के तहत स्थापित बोर्डों को ही इस कानून के तहत वायु प्रदूषण नियंत्रण का दायित्व दिया गया।

उपयोगिता का विश्लेषण

इस अधिनियम ने वायु प्रदूषण को सार्वजनिक नीति और विधि के केंद्रीय प्रश्न के रूप में स्थापित किया। औद्योगिक इकाइयों के उत्सर्जन मानक, प्रदूषण नियंत्रण क्षेत्र, निरीक्षण की व्यवस्था और अभियोजन की शक्ति इस कानून की प्रमुख उपलब्धियाँ हैं। न्यायालयों ने भी इस कानून के आधार पर महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप किए।

किन्तु भारत में वायु प्रदूषण विशेष रूप से शहरी संदर्भ में बहु-स्रोत समस्या है—वाहन, उद्योग, निर्माण, धूल, अपशिष्ट दहन, ऊर्जा उत्पादन, ईंट भट्टे, घरेलू ईंधन आदि। इस जटिलता से निपटने के लिए अधिनियम को बहु-एजेंसी समन्वय की आवश्यकता होती है, जो व्यवहार में कमजोर रहा। निगरानी स्टेशन सीमित रहे, वास्तविक-समय डेटा का अभाव रहा, और प्रवर्तन के स्तर पर चयनात्मकता बनी रही। बड़े शहरों में सुधार अक्सर न्यायिक आदेशों और विशिष्ट अभियानों के माध्यम से हुए, न कि कानून के नियमित प्रवर्तन से।

8.5 पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम, 1986

भोपाल गैस त्रासदी ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत के पास एक व्यापक पर्यावरणीय नियमन कानून का अभाव है। पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986 इसी पृष्ठभूमि में बना। यह केंद्र सरकार को पर्यावरण की रक्षा और सुधार हेतु व्यापक शक्तियाँ देता है—मानक निर्धारण, उद्योगों पर प्रतिबंध, खतरनाक पदार्थों का नियमन, अधिसूचनाएँ जारी करना, निरीक्षण, प्रयोगशालाओं की मान्यता और नियम निर्माण आदि।

उपयोगिता का विश्लेषण

यह अधिनियम भारतीय पर्यावरणीय शासन की रीढ़ है। इसके अंतर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण नियम और अधिसूचनाएँ जारी की गईं, जैसे खतरनाक अपशिष्ट नियम, तटीय विनियमन क्षेत्र (CRZ), पर्यावरण प्रभाव आकलन (EIA), प्लास्टिक प्रबंधन, बायो-मेडिकल वेस्ट आदि। इसकी सबसे बड़ी शक्ति इसकी व्यापकता और लचीलापन है। जब अन्य कानून किसी विशिष्ट स्थिति से निपटने में अपर्याप्त हों, तब यह अधिनियम व्यापक हस्तक्षेप का अवसर देता है।

लेकिन यही व्यापकता इसकी कमजोरी भी बन सकती है। कानून केंद्रित और ऊपर से नीचे की ओर नियंत्रण पर आधारित है। निर्णय-प्रक्रिया में स्थानीय समुदायों की भागीदारी सीमित है। EIA और पर्यावरणीय मंजूरी जैसी प्रक्रियाएँ कई बार औपचारिकता में बदल जाती हैं। प्रशासन के पास व्यापक शक्ति है, पर उसके उपयोग में पारदर्शिता और जवाबदेही की कमी देखी गई है। परिणामतः कानून का स्वरूप मजबूत होते हुए भी उसका प्रभाव कई बार संदिग्ध रहता है।

8.6 पर्यावरण प्रभाव आकलन (EIA) अधिसूचना

यद्यपि EIA कोई पृथक अधिनियम नहीं, बल्कि पर्यावरण संरक्षण अधिनियम के अंतर्गत विकसित व्यवस्था है, फिर भी पर्यावरणीय शासन में इसकी केंद्रीय भूमिका है। 1994 की अधिसूचना और 2006 की संशोधित अधिसूचना के माध्यम से विभिन्न परियोजनाओं के लिए पूर्व पर्यावरणीय स्वीकृति, जनसुनवाई और प्रभाव आकलन अनिवार्य किया गया।

उपयोगिता

1. परियोजनाओं के पर्यावरणीय प्रभाव का पूर्व आकलन।
2. जनसुनवाई और सार्वजनिक भागीदारी का अवसर।
3. शर्तों के साथ परियोजना स्वीकृति।
4. पर्यावरणीय नियोजन की अवधारणा का विकास।

सीमाएँ

1. रिपोर्टें परियोजना-प्रायोजित एजेंसियों द्वारा तैयार होने से पक्षपात की संभावना।
2. जनसुनवाई की प्रक्रियात्मक कमजोरी।
3. संचयी प्रभाव और दीर्घकालिक सामाजिक प्रभावों की उपेक्षा।
4. स्वीकृति के बाद निगरानी का अभाव।
5. "क्लीयरेंस" प्रक्रिया का औद्योगिक निवेश के अनुकूल सरलीकरण।

EIA व्यवस्था उपयोगी है, लेकिन उसकी विश्वसनीयता और पारदर्शिता बढ़ाए बिना वह पर्यावरण संरक्षण का सशक्त माध्यम नहीं बन सकती।

8.7 सार्वजनिक देयता बीमा अधिनियम, 1991

इस अधिनियम का उद्देश्य खतरनाक उद्योगों से दुर्घटना की स्थिति में पीड़ितों को त्वरित राहत उपलब्ध कराना है। यह कानून विशेष रूप से भोपाल गैस त्रासदी के अनुभव से प्रेरित है।

उपयोगिता

1. दुर्घटना-पीड़ितों के लिए तत्काल राहत का सिद्धांत।
2. खतरनाक उद्योगों पर बीमा लेना अनिवार्य।
3. दायित्व और प्रतिकर की वैधानिक पहचान।

सीमाएँ

1. राहत राशि सीमित और कई बार अपर्याप्त।
2. दीर्घकालिक स्वास्थ्य प्रभावों और पारिस्थितिक क्षति का पूर्ण आकलन नहीं।
3. प्रवर्तन और अनुपालन की कमजोरी।

यह अधिनियम नैतिक और वैधानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, लेकिन औद्योगिक जोखिम प्रबंधन के व्यापक ढाँचे की तुलना में सीमित प्रभाव वाला है।

8.8 जैव-विविधता अधिनियम, 2002

जैव-विविधता पर अंतरराष्ट्रीय अभिसमय और जैव संसाधनों के संरक्षण की आवश्यकता के संदर्भ में यह अधिनियम लागू हुआ। इसका उद्देश्य जैव-विविधता संरक्षण, जैव संसाधनों का सतत उपयोग और उनसे उत्पन्न लाभों का न्यायपूर्ण बँटवारा सुनिश्चित करना है।

उपयोगिता

1. जैव संसाधनों की वैधानिक सुरक्षा।
2. पारंपरिक ज्ञान और समुदायों के हितों की रक्षा।
3. राष्ट्रीय जैव-विविधता प्राधिकरण, राज्य बोर्ड और स्थानीय प्रबंधन समितियों की स्थापना।
4. जैव-चोरी और विदेशी पहुँच पर नियंत्रण।
5. लाभ-साझेदारी का सिद्धांत।

सीमाएँ

1. स्थानीय निकायों की क्षमता कमजोर।

2. जैव-विविधता रजिस्टर कई स्थानों पर अधूरे।
3. लाभ-साझेदारी तंत्र व्यवहार में सीमित।
4. संरक्षण और व्यापार/अनुसंधान के बीच संतुलन की जटिलता
यह कानून दूरदर्शी है, किंतु इसके सफल कार्यान्वयन के लिए स्थानीय संस्थागत सशक्तीकरण आवश्यक है।

8.9 अनुसूचित जनजाति और अन्य परंपरागत वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006

यह कानून पर्यावरणीय और सामाजिक न्याय के बीच संबंध को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस अधिनियम ने यह स्वीकार किया कि वन संरक्षण की पूर्ववर्ती व्यवस्थाओं में आदिवासी और पारंपरिक वनवासियों के साथ ऐतिहासिक अन्याय हुआ है। इसलिए उनके व्यक्तिगत और सामुदायिक अधिकारों की मान्यता दी गई।
उपयोगिता
1. संरक्षण के केंद्रीकृत मॉडल की सीमाओं को चुनौती।
2. ग्रामसभा की भूमिका का विस्तार।
3. सामुदायिक वन संसाधनों पर अधिकार की वैधानिक मान्यता।
4. पर्यावरण संरक्षण को समुदाय-आधारित शासन से जोड़ना।
सीमाएँ
1. अधिकार-मान्यता की प्रक्रिया धीमी।
2. प्रशासनिक प्रतिरोध।
3. विभिन्न विभागों के बीच टकराव।
4. संरक्षण और उपयोग के बीच व्यावहारिक तनाव।
फिर भी यह अधिनियम यह दिखाता है कि पर्यावरणीय कानूनों की उपयोगिता सामाजिक न्याय के साथ उनके संबंध पर निर्भर करती है।

8.10 राष्ट्रीय हरित अधिकरण अधिनियम, 2010

पर्यावरणीय विवादों के त्वरित और विशेषज्ञतापूर्ण निपटारे के लिए राष्ट्रीय हरित अधिकरण की स्थापना भारतीय विधिक इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है।
उपयोगिता
1. पर्यावरणीय मामलों के लिए विशेषज्ञ मंच।
2. अपेक्षाकृत तेज न्याय-प्रक्रिया।
3. तकनीकी और न्यायिक विशेषज्ञता का संयोजन।
4. पर्यावरणीय सिद्धांतों का संस्थागत अनुप्रयोग।
5. नागरिकों और समुदायों को अपेक्षाकृत सुलभ न्याय।
सीमाएँ
1. सीमित पीठें और भौगोलिक दूरी।
2. आदेशों के अनुपालन की समस्या।
3. संसाधन और नियुक्तियों में देरी।
4. पर्यावरणीय मामलों की जटिलता के मुकाबले संस्थागत क्षमता अभी भी सीमित।
इसके बावजूद NGT ने भारतीय पर्यावरणीय कानूनों की उपयोगिता बढ़ाने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

9. भारतीय पर्यावरणीय कानूनों की संस्थागत संरचना

भारतीय पर्यावरणीय शासन अनेक संस्थाओं के माध्यम से संचालित होता है। इनमें केंद्र सरकार, पर्यावरण मंत्रालय, केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड, राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड, वन विभाग, जैव-विविधता प्राधिकरण, स्थानीय निकाय, जिला प्रशासन, ग्रामसभा, न्यायपालिका और NGT शामिल हैं। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड नीति, मानक और समन्वय की भूमिका निभाता है, जबकि राज्य बोर्ड वास्तविक निरीक्षण, स्वीकृति और नियंत्रण के लिए जिम्मेदार होते हैं। परंतु राज्य बोर्डों की क्षमता असमान है। कई राज्यों में वे अपर्याप्त स्टाफ, संसाधन और तकनीकी उपकरणों के साथ काम करते हैं। इसी प्रकार स्थानीय निकायों के पास ठोस अपशिष्ट, सीवेज, निर्माण-धूल और शहरी पारिस्थितिकी से निपटने की सीमित क्षमता है। वन प्रशासन ऐतिहासिक रूप से केंद्रीकृत रहा है, जबकि जैव-विविधता और वनाधिकार कानून समुदाय की भूमिका को मान्यता देते हैं। इससे संस्थागत तनाव

उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार NGT और न्यायालय निर्णय तो दे सकते हैं, लेकिन कार्यान्वयन प्रशासन को करना होता है। इसलिए संस्थागत समन्वय भारतीय पर्यावरणीय कानूनों की उपयोगिता का केंद्रीय प्रश्न है।

10. न्यायपालिका और पर्यावरणीय न्यायशास्त्र

भारतीय न्यायपालिका ने पर्यावरण संरक्षण को संवैधानिक अधिकार और राज्य दायित्व दोनों के रूप में विकसित किया है। एम.सी. मेहता के मामलों में गंगा प्रदूषण, ताजमहल क्षेत्र, ओलियम गैस रिसाव, वाहन प्रदूषण और औद्योगिक स्थानांतरण जैसे मुद्दों पर विस्तृत न्यायिक हस्तक्षेप हुआ। न्यायालय ने निरपेक्ष दायित्व, प्रदूषक भुगतान सिद्धांत, एहतियाती सिद्धांत और सार्वजनिक न्यास सिद्धांत को अपनाया।

न्यायपालिका की भूमिका के सकारात्मक पक्ष:

1. प्रशासनिक निष्क्रियता की भरपाई
2. पर्यावरणीय अधिकारों का संवैधानिक विस्तार
3. प्रदूषणकारी उद्योगों पर दबाव
4. नागरिकों के लिए न्याय के नए रास्ते

आलोचनात्मक पक्ष:

1. नीति-निर्माण की सीमा तक न्यायिक हस्तक्षेप
2. कुछ मामलों में तकनीकी जटिलताओं के बीच न्यायिक समाधान की सीमाएँ
3. न्यायिक आदेशों के अनुपालन की समस्या

फिर भी भारतीय संदर्भ में न्यायपालिका के बिना पर्यावरणीय कानूनों की प्रभावशीलता काफी कम होती।

11. भारतीय अधिनियमों की उपयोगिता: उपलब्धियों का समेकित मूल्यांकन

भारतीय पर्यावरणीय अधिनियमों की उपयोगिता निम्न प्रमुख क्षेत्रों में देखी जा सकती है—

1. पर्यावरण को वैधानिक और नीतिगत केंद्र में लाना
2. प्रदूषण नियंत्रण हेतु मानक और तंत्र बनाना
3. वन और जैव-विविधता संरक्षण के लिए प्रशासनिक नियंत्रण स्थापित करना
4. नागरिकों को पर्यावरणीय अधिकार और न्याय का आधार देना
5. सतत विकास और पर्यावरणीय सावधानी की अवधारणा का संस्थानीकरण
6. औद्योगिक दायित्व और पर्यावरणीय मंजूरी जैसी अवधारणाओं को लागू करना
7. पर्यावरणीय शासन में विशेषज्ञ संस्थाओं का विकास

इन उपलब्धियों को कमतर नहीं आँकना चाहिए। यदि ये कानून न होते, तो पर्यावरणीय क्षति कहीं अधिक गंभीर हो सकती थी।

12. भारतीय पर्यावरणीय कानूनों की सीमाएँ: समालोचनात्मक विश्लेषण

12.1 कार्यान्वयन का संकट

कानूनों की उपयोगिता का सबसे बड़ा अवरोध उनका कमजोर कार्यान्वयन है। निरीक्षण की अनियमितता, डेटा में हेरफेर, लंबी कानूनी प्रक्रियाएँ, दंड में विलंब और राजनीतिक दबाव प्रवर्तन को कमजोर करते हैं।

12.2 संस्थागत क्षमता की कमी

प्रदूषण नियंत्रण बोर्डों और स्थानीय निकायों के पास पर्याप्त संसाधन नहीं होते। वैज्ञानिक निगरानी, वास्तविक-समय विश्लेषण, प्रयोगशाला परीक्षण और तकनीकी कर्मचारियों की कमी प्रभावशीलता घटाती है।

12.3 नियामक कब्जा

कई बार नियामक संस्थाएँ उद्योग और राजनीतिक शक्ति के प्रभाव में आ जाती हैं। इससे कानूनों का निष्पक्ष अनुप्रयोग बाधित होता है।

12.4 औपचारिक अनुपालन बनाम वास्तविक संरक्षण

कागजों पर स्वीकृति, रिपोर्ट, अनुमति और शर्तें होती हैं, पर वास्तविक पर्यावरणीय स्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं होता। यह "कम्प्लायंस विदाउट कंजरवेशन" की समस्या है।

12.5 समुदाय और न्याय
कई कानूनों में स्थानीय समुदायों की भागीदारी नाममात्र की है। जनसुनवाई, ग्रामसभा और सामाजिक प्रभाव मूल्यांकन की प्रक्रियाएँ पर्याप्त गंभीरता से लागू नहीं होतीं।

12.6 शहरी पर्यावरणीय विफलता
भारतीय शहरों में वायु प्रदूषण, ठोस अपशिष्ट, सीवेज, झीलों का अतिक्रमण, जल-निकासी, ध्वनि प्रदूषण और हरित क्षेत्र की कमी यह दर्शाते हैं कि पर्यावरणीय कानूनों और नगर शासन के बीच समन्वय कमजोर है।

12.7 दंड और प्रतिकर की अपर्याप्तता
पर्यावरणीय क्षति की वास्तविक लागत के सापेक्ष दंड कई बार बहुत कम होते हैं। इससे प्रदूषणकारी गतिविधियों के लिए निवारक प्रभाव कमजोर पड़ता है।

13. पर्यावरण संरक्षण, विकास और राजनीतिक अर्थशास्त्र
भारतीय पर्यावरणीय कानूनों की उपयोगिता का आकलन विकास के राजनीतिक अर्थशास्त्र से अलग नहीं किया जा सकता। बड़े उद्योग, खनन, ऊर्जा, अवसंरचना और शहरी विस्तार पर आधारित विकास मॉडल पर्यावरणीय नियमन को अक्सर बाधा की तरह देखता है। ऐसे में कानूनों पर दो प्रकार का दबाव पड़ता है—एक, उन्हें "निवेश-अनुकूल" बनाने का; दो, उन्हें औपचारिकता में बदल देने का। इस संदर्भ में पर्यावरणीय कानूनों का संघर्ष केवल पारिस्थितिकी का नहीं, बल्कि लोकतंत्र और सार्वजनिक नीति का भी है।

14. पर्यावरणीय जनांदोलन और अधिनियमों की उपयोगिता
चिपको, अप्पिको, नर्मदा, साइलेंट वैली, तटीय संघर्ष, खनन-विरोधी आंदोलनों और शहरी नागरिक अभियानों ने यह स्पष्ट किया कि कानूनों की उपयोगिता सामाजिक जागरूकता और जनदबाव से बढ़ती है। कई बार जनांदोलनों ने ही कानूनों के निर्माण, संशोधन या कठोर अनुपालन की दिशा में दबाव बनाया। अतः पर्यावरणीय विधायन की सफलता नागरिक समाज की सक्रियता से भी जुड़ी है।

15. नीतिगत सुझाव
भारतीय पर्यावरणीय अधिनियमों को अधिक प्रभावी बनाने के लिए निम्न सुधार आवश्यक हैं—
1. प्रदूषण नियंत्रण बोर्डों की संरचनात्मक स्वायत्तता
2. उच्च स्तरीय वैज्ञानिक और तकनीकी क्षमता का विकास
3. पर्यावरणीय डेटा की सार्वजनिक उपलब्धता और डिजिटल निगरानी
4. EIA प्रणाली का स्वतंत्र और विश्वसनीय पुनर्गठन
5. ग्रामसभा, स्थानीय निकाय और समुदायों की वास्तविक भागीदारी
6. पर्यावरणीय न्याय तक आसान पहुँच
7. दंड और प्रतिकर को अधिक यथार्थवादी और कठोर बनाना
8. वन और जैव-विविधता शासन में समुदाय-आधारित सह-प्रबंधन
9. शहरी पर्यावरणीय प्रशासन का एकीकृत ढाँचा
10. पर्यावरणीय शिक्षा और नागरिक उत्तरदायित्व का विस्तार

16. निष्कर्ष
पर्यावरण संरक्षण की दिशा में भारतीय अधिनियमों का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि भारत ने पर्यावरणीय शासन के लिए एक व्यापक, बहुस्तरीय और कई मामलों में प्रगतिशील विधिक ढाँचा विकसित किया है। जल, वायु, वन, जैव-विविधता, औद्योगिक जोखिम, पर्यावरणीय मंजूरी, समुदाय-अधिकार और हरित न्याय—इन सभी क्षेत्रों में कानूनों की उपस्थिति ने पर्यावरण संरक्षण को प्रशासनिक दायित्व, न्यायिक अधिकार और सार्वजनिक नीति का विषय बनाया है। यह एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपलब्धि है। किन्तु कानूनों की वास्तविक उपयोगिता उनकी उपस्थिति में नहीं, बल्कि उनके जीवन्त और निष्पक्ष प्रवर्तन में निहित है। भारतीय अनुभव बताता है कि पर्यावरणीय कानूनों की प्रभावशीलता को सबसे अधिक कमजोर करने वाले तत्व हैं—संस्थागत कमजोरी, कार्यान्वयन की ढिलाई, राजनीतिक-आर्थिक दबाव, डेटा की अपारदर्शिता, तकनीकी कमी, स्थानीय समुदायों की

उपेक्षा, और विकासवादी तर्कों के दबाव में नियामक शिथिलीकरण। कई मामलों में कानून मौजूद हैं, न्यायिक सिद्धांत विकसित हैं, संस्थाएँ भी स्थापित हैं, फिर भी पर्यावरणीय क्षरण जारी है। यह स्थिति कानूनों की असफलता नहीं, बल्कि पर्यावरणीय शासन की गहरी संरचनात्मक चुनौतियों की ओर संकेत करती है। इस शोधपत्र का समेकित निष्कर्ष यह है कि भारतीय अधिनियम पर्यावरण संरक्षण के लिए अनिवार्य आधार उपलब्ध कराते हैं और उनके बिना किसी संगठित पर्यावरणीय शासन की कल्पना संभव नहीं है। किंतु वे अपने आप में पर्याप्त नहीं हैं। उनकी उपयोगिता को वास्तविक रूप से सिद्ध करने के लिए आवश्यक है कि पर्यावरणीय शासन को लोकतांत्रिक, पारदर्शी, समुदाय-केंद्रित, वैज्ञानिक और सामाजिक न्याय-आधारित बनाया जाए। पर्यावरण को विकास का प्रतिद्वंद्वी नहीं, बल्कि उसकी पूर्वशर्त मानना होगा। यदि भारत अपने पर्यावरणीय अधिनियमों को इस व्यापक दृष्टि से लागू कर सके, तो वे केवल नियंत्रण के साधन नहीं, बल्कि सतत और न्यायपूर्ण भविष्य की आधारशिला बन सकते हैं।

संदर्भ सूची

1. Baviskar, A. (2004). In the Belly of the River: Tribal Conflicts over Development in the Narmada Valley. New Delhi: Oxford University Press.
2. Central Pollution Control Board. (2000–2014). Annual Reports. New Delhi: Government of India.
3. Desai, A. R. (2002). Environmental Movements in India. Jaipur: Rawat Publications.
4. Divan, S., & Rosencranz, A. (2001). Environmental Law and Policy in India. New Delhi: Oxford University Press.
5. Gadgil, M., & Guha, R. (2000 edition). Ecology and Equity. New Delhi: Penguin Books.
6. Government of India. (1974). The Water (Prevention and Control of Pollution) Act.
7. Government of India. (1977). The Water (Prevention and Control of Pollution) Cess Act.
8. Government of India. (1980). The Forest (Conservation) Act.
9. Government of India. (1981). The Air (Prevention and Control of Pollution) Act.
10. Government of India. (1986). The Environment (Protection) Act.
11. Government of India. (1991). Public Liability Insurance Act.
12. Government of India. (2002). Biological Diversity Act.
13. Government of India. (2006). Scheduled Tribes and Other Traditional Forest Dwellers (Recognition of Forest Rights) Act.
14. Government of India. (2010). National Green Tribunal Act.
15. Jain, M. P. (2011). Indian Constitutional Law. New Delhi: LexisNexis.
16. Kumar, K. (2010). Environmental Pollution and Law. New Delhi: APH Publishing.
17. Leelakrishnan, P. (2000). Law and Environment. New Delhi: Eastern Book Company.
18. Leelakrishnan, P. (2008). Environmental Law in India. New Delhi: LexisNexis Butterworths.
19. Ministry of Environment and Forests. (2006). National Environment Policy. New Delhi: Government of India.
20. Ministry of Environment and Forests. (2006). EIA Notification. New Delhi: Government of India.
21. Ministry of Environment and Forests. (2000–2014). Annual Reports. New Delhi: Government of India.
22. Singh, M. P. (2007). Outlines of Environmental Law. Allahabad: Central Law Agency.
23. Upadhyay, S., & Upadhyay, V. (2002). Handbook on Environmental Law. New Delhi: LexisNexis.
24. World Commission on Environment and Development. (1987, cited in later Indian discussions). Our Common Future. Oxford University Press.